

समकालीन केरल में भूमि संघर्ष

Land Struggles in Contemporary Kerala

सनल मोहन

Sanal Mohan

December 19, 2011

सामाजिक विकास के संदर्भ में केरल की चर्चा सबसे अधिक की जाती है क्योंकि केरल में लगभग पूर्ण साक्षरता का दावा किया जाता है, तुलनात्मक रूप में अधिक उम्र की प्रत्याशा की जाती है और भूमि सुधार भी हुआ है। यद्यपि यहाँ पर प्रति व्यक्ति आमदनी की दर कम है, लेकिन उक्त कारणों से मोटे तौर पर “केरल की पहचान विकास के मॉडल” के रूप में हो गई है। लेकिन केरल के विकास की सफल गाथाओं की इस सूची में कुछ वर्गों को शामिल नहीं किया गया है। इन वर्गों में हैं, दलित, राज्य की आबादी में जिनका हिस्सा 9.8 प्रतिशत है, आदिवासी, जिनका हिस्सा 1.14 प्रतिशत है और मछुआरे। हाल ही में विद्वानों ने दलितों और आदिवासियों की भूमिहीनता पर ध्यान आकर्षित किया है। यही कारण है कि समाज के ये वर्ग विकास की प्रक्रिया में भाग लेने में असमर्थ रहे हैं और इसके फलस्वरूप पिछले दशक में भूमि संघर्ष होने लगा है।

सन् 1975 में भारतीय संसद ने एक कानून पारित किया था, जिसके अनुसार केरल सरकार के लिए अनिवार्य हो गया था कि वह उन आदिवासियों को उनकी वह ज़मीन वापस करे जिसे वे केरल के अन्य भागों से जहाँ बेहतर कृषि प्रौद्योगिकी, पूँजी और संगठनात्मक कौशल है, आप्रवासन के कारण खो बैठे थे। नये बसने वाले इन लोगों की ज़मीन के बारे में धारणा भिन्न थी, जो सीधे संपत्ति और स्वामित्व से जुड़ी हुई थी; आदिवासी इस धारणा को अभी तक नहीं अपना पाए थे। सन् 1988 में नल्ला थम्पी नाम के एक सामाजिक कार्यकर्ता ने केरल के उच्च न्यायालय में एक औपचारिक याचिका दाखिल की थी, जिसमें यह माँग की गई थी कि केरल सरकार संसद द्वारा पारित और लंबे समय से लंबित नियम को कार्यान्वित करे। न्यायालय ने केरल सरकार को निर्देश दिए कि आदिवासियों को उनकी ज़मीनें, जिनसे वे अलग हो गए थे, लौटाई जाएँ। परंतु ज़मीन पर काबिज़ लोगों के राजनीतिक दबदबे के कारण और अन्य अनेक कानूनी दाँव-पेच के कारण आदिवासियों को उनकी ज़मीनें अभी तक लौटाई नहीं जा सकी हैं।

कृषि उत्पादन से अटूट संबंध होने के बावजूद केरल में दलितों को परंपरागत जातिगत समाज में ज़मीन का स्वामित्व प्राप्त करने से रोका गया। साठ के दशक के उत्तरार्ध में और सत्तर के दशक के पूर्वार्ध में लागू किए गए भूमि सुधारों से भी स्थिति में कोई खास परिवर्तन नहीं हुआ है। इन सुधारों के परिणामस्वरूप अधिकांशतः उच्च वर्ग के और मध्यम वर्ग के नागरिकों को पुराने पट्टेधारी होने के कारण भूस्वामी होने का लाभ मिला, क्योंकि पट्टेधारी के रूप में वे किराए की अपनी रसीद दिखाकर अपने पट्टेधारी होने को प्रमाणित कर सकते थे। मज़दूर के रूप में काम करने वाले दलित ज़मीन पर अपने दावे को प्रमाणित नहीं कर सके। इसके परिणामस्वरूप दलितों को ज़मीन के छोटे-छोटे प्लॉट मिल गए, जिस पर उनके झोंपड़े बने हुए थे, भूमि सुधार के नियमों के अधीन उनके स्वामित्व का कुल क्षेत्र गाँवों में 0.04 हैक्टेयर से लेकर शहरी इलाकों में 0.02 हैक्टेयर तक था। स्वामित्व और ज़मीन पर कब्ज़ा करने के कानूनी अधिकारों से वंचित होने का अर्थ यह है कि दलित अब कभी-भी किसानों की तरह ज़मीन का स्वामित्व ग्रहण नहीं कर पाएँगे जबकि खेतिहर समाज में उनकी भूमिका निरंतर बनी रही है।

सन् 1980 से दलितों के छोटे-छोटे भूखंडों के अंतर्पीढीय विखंडीकरण के कारण स्वतःस्फूर्त आंदोलन सिर उठाने लगे जिनमें भूमिहीन किसान खेती योग्य ज़मीन देने की माँग करने लगे. इसके कारण जमे-जमाए राजनीतिक दलों से उनकी टकराहट बढ़ने लगी. खास तौर पर साम्यवादी दल को धीरे-धीरे फैलने वाले इन स्वतःस्फूर्त आंदोलनों से खतरा महसूस होने लगा, जिनमें केरल के “सुलझे हुए मामले” को फिर से खोले जाने की माँग की जा रही थी, क्योंकि वे ही भूमि सुधार के इस ऐतिहासिक कार्यक्रम के पीछे थे. यद्यपि भारतीय साम्यवादी दल (मार्क्सवादी) के कुछ नेता खुलकर दूसरे भूमि सुधार में उनके हितों का समर्थन कर रहे थे, लेकिन पार्टी में उनके विरोध के कारण उन्हें अपने कदम वापस लेने पड़े. अपने समर्थन के आधार के खिसकने के डर से कोई भी राजनीतिक दल भूमि-स्वामित्व की यथास्थिति को बदलने के लिए कोई कार्रवाई करने के लिए तैयार नहीं था. वाम और दक्षिणपंथी दलों में कुछेक विरोधी स्वरो के छोड़कर ऐसा लगता है कि सभी दलों ने अपने हितों को देखते हुए यह मान ही लिया था कि केरल में भूमि सुधार का मामला हमेशा के लिए सुलझ गया है.

इन परिस्थितियों में कन्नूर के एम. गीतानंदन, वेनाद के सी.के.जानु और कोट्टायम के सुन्नी एम.कप्पिकड और एम.डी.थॉमस जैसे केरल के विभिन्न कार्यकर्ताओं ने सन् 2000 में एक आंदोलन का नेतृत्व किया था, जिसमें भूमिहीन आदिवासियों के लिए ज़मीन का दावा किया गया था. आदिवासी गोत्र महासभा के निर्माण के साथ ही वन विभागों, बड़े-बड़े बागानों और सरकारी नियंत्रण की उन अतिरिक्त ज़मीनों पर, जिन्हें भूमिहीन लोगों में पुनर्वितरण के लिए अलग रख दिया गया था, कब्ज़ा करने के लिए आंदोलन शुरू हो गए. ये आंदोलन, जिनकी शुरुआत नब्बे के दशक में हुई, केरल की राजनीति के लिए नए थे, दलित और आदिवासी कार्यकर्ताओं द्वारा चलाए गए थे और जिन पर राजनीतिक दलों का कोई नियंत्रण नहीं था. झारखंड और छत्तीसगढ़ जैसे भारत के अन्य क्षेत्रों के आंदोलनों में और केरल के इस आंदोलन में यही अंतर है, जहाँ माओवादियों ने शोषण और दमन के खिलाफ संघर्ष के लिए आदिवासियों को सशस्त्र कर दिया था, वहाँ केरल के आंदोलनों का उद्देश्य आदिवासियों को उनकी अलग हुई ज़मीनों पर अधिकार दिलाना और दलितों को ज़मीन दिलाना था.

सन् 2002 में इस राजनीतिक आंदोलन को सिविल सोसायटियों का जबर्दस्त समर्थन मिला और सरकार को उन क्रूर स्थितियों को स्वीकार करना पड़ा, जिनमें केरल के आदिवासी रह रहे थे. सन् 2003 में आदिवासी गोत्र महासभा के नेतृत्व में वेनाद ज़िले के मुथंगा में लोगों ने वन्य जीवन अभयारण्य की घेराबंदी कर दी और 19 फरवरी, 2003 को पुलिस फ़ायरिंग में एक आदिवासी कार्यकर्ता और पुलिसकर्मी की मृत्यु हो गई. इस घटना के बाद पुलिस ने जानु और गीतानंदन नामक आंदोलन के नेताओं की धरपकड़ की. इस आंदोलन के बाद आदिवासी गोत्र महासभा की अरलम (कुन्नूर के पड़ोसी ज़िले) नाम के एक गाँव में, जहाँ आदिवासी पनियार समुदाय की एक बड़ी आबादी रहती है, एक और झड़प हुई.

सन् 2007 में लहा गोपालन नाम के एक और दलित कार्यकर्ता ने चेंगारा (केरल के पथमतित्ता ज़िले में) भूमि संघर्ष का एक और आंदोलन शुरू किया, जिसमें ट्रावणकोर के रियासत के पूर्व देसी शासक से पट्टे पर लिए गए बागान पर कब्ज़ा कर लिया गया. इस आंदोलन के नेता भूमिहीन लोगों को, जिनमें राज्य के विभिन्न भागों से आए हुए अधिकांश भूमिहीन लोग शामिल थे, वहाँ लेकर आए और उन्होंने बागान पर कब्ज़ा कर लिया और फिर वे लोग वहीं पर रहने लगे. इसके कारण राज्य सरकार, राजनैतिक दलों और ट्रेड यूनियनों में टकराहटें बढ़ गईं. सरकार की नज़र में यह उनका अवैध कब्ज़ा था जबकि बागान के कामगारों का मानना था कि भूमि पर काबिज़ मालिक बागान के कामगारों को उनके कानूनी अधिकारों से वंचित कर रहे हैं. इस कब्ज़े के फलस्वरूप कई झड़पें हुईं और भूमिहीनता का यह मामला एक बड़ा

राजनीतिक मामला बन गया. राजनीतिकरण के कारण यह साफ़ हो गया कि केरल में भूमि के लिए आदिवासियों और दलितों के संघर्ष की प्रेरणा उन्हें राज्य के बाहर से मिली है और यह राज्य के बड़े राजनीतिक दलों के विरुद्ध है और इसके कारण लंबे समय से उपेक्षित समानता और पुनर्वितरण से संबंधित न्याय के जातीय प्रश्न उठ खड़े हुए हैं.

सनल मोहन महात्मा गाँधी विश्वविद्यालय, कोट्टायम, भारत के समाज विज्ञान स्कूल में सह प्रोफेसर हैं. वे भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान (CASI) के पतझड़ (FALL) 2011 सत्र में विज़िटिंग स्कॉलर रहे हैं.

हिंदी अनुवाद: विजय कुमार मल्होत्रा, पूर्व निदेशक (राजभाषा), रेल मंत्रालय, भारत सरकार
<malhotravk@hotmail.com>